International Journal of Advance and Applied Research
www.ijaar.co.in
ISSN – 2347-7075 Impact Factor – 8.141
Peer Reviewed Bi-Monthly
Vol. 7 No. 2 January – February - 2026

समकालीन हिंदी आदिवासी साहित्य और विमर्श (2000 से वर्तमान तक)

प्रिया

शोधार्थी, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय

Corresponding Author – प्रिया

DOI - 10.5281/zenodo.18654532

प्रस्तावना:

आदिवासी शब्द अपने आप में अथाह विस्तार समेटे हुए है। यह शब्द केवल जंगलों एवं दूर-दराज़ के इलाकों में रहने वाले तथाकथित सभ्य समाज से कटे लोगों को परिभाषित नहीं करता है अपितु यह शब्द इस पृथ्वी पर उपस्थित उस पहले मनुष्य और उसके समाज को भी परिभाषित करता है जिसके उत्तराधिकारियों के रूप में हम, आज जाने जाते हैं। इस पृथ्वी पर उपस्थित प्रथम सामाजिक इकाई, जो कि जैविक रूप से हमारे पूर्वज ही हैं; भी आदिवासी जीवन जीती थी। ऐसे में वर्तमान आदिवासी समाज को स्वयं से भिन्न समझना न केवल हमारे पूर्वजों के प्रति धृष्टता होगी अपितु ये उनकी सदियों से सँजोए हुई ज्ञान परंपरा का भी अपमान होगा।

शिक्षा की पहुँच के फलस्वरुप जहाँ एक ओर आदिवासी समाज ने विकास के वृहत्तर परिसर की ओर क़दम रखा, वहीं दूसरी ओर तथाकथित सभ्य समाज द्वारा जंगलों एवं अन्य प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन ने भी उनके जीवन, समाज, संस्कृति, खान-पान, भाषा, मूल्यों आदि को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। प्रसिद्ध आदिवासी कवि एवं चिंतक 'हरिराम मीणा' जी का यह कथन आदिवासी समुदाय के इतिहास और वर्तमान को सटीक रूप में व्याख्यायित करता है कि **"बहुत लंबी यात्रा कर चुकी मानवता के बीच, उसी के इर्द-गिर्द एक और मानवता है जो अति प्राचीन काल से प्रकृति के सानिध्य में अपनी अनूठी शैली का जीवन जीती चली आई और भौतिक प्रगति की दृष्टि से अब भी कमोबेश वहीं की वहीं है, अपने आदिम सरोकारों और संस्कारों के साथ,जिसे हमने 'आदिवासी' नाम दिया है। कम से कम इस महादेश और समाज के लिए यह वह वर्ग है जो निर्विवाद रूप से इस राष्ट्र के मूल वासी हैं, युग युगों से जिन्हें पहले समतलों से पहाड़ों-जंगलों में धकेला जाता रहा और अब वहाँ से भी खदेड़ा जा रहा है।"**[1]

साहित्य और मानवीय संवेदना का संबंध आदिकाल से ही रहा है। आदिवासी समुदाय के भावों, संवेदनाओं और जीवनानुभवों को प्रकट करने के माध्यम रूप में भी साहित्य का प्रयोग किया गया है। आदिवासी साहित्य के संबंध में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जहाँ आधुनिक जीवन मूल्यों से प्रभावित मुख्यधारा के साहित्य में 'मैं' की अवधारणा उपस्थित दिखाई पड़ती है वहीं आदिवासी दर्शन से प्रभावित साहित्य में 'सामाजिक एकता', पर्यावरणीय जागरूकता, सामुदायिक न्याय जैसे विषय स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते है।

अतः जब हम समकालीन आदिवासी साहित्य की ओर देखते हैं, तो वह हमें केवल संघर्ष और पीड़ा ही नहीं दिखाता बल्कि प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व, सामुदायिक न्याय और पारिस्थितिक संतुलन जैसे उन मूल्यों की भी याद दिलाता है जो आधुनिक समाज से धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे

हैं। यही इस साहित्य की विशेषता है कि यह विकास और मानवीय अस्मिता के प्रश्नों को एक साथ रखता है।

आदिवासी साहित्य की अवधारणा:

आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर कई मतभेद हैं, कुछ चिंतक आदिवासी जीवन पर आधारित साहित्य को आदिवासी साहित्य मानते हैं तो कुछ आदिवासी रचनाकारों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही आदिवासी साहित्य की श्रेणी में रखते हैं। अन्य विमर्शों की भाँति ही यहाँ भी स्वानुभूति और सहानुभूति का प्रश्न दिखाई देता है। आदिवासी साहित्य के अध्येता प्रो. वीर भारत तलवार ने तद्भव-34 में छपे अपने लेख में आदिवासी साहित्य की व्याख्या करते हुए केवल आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को आदिवासी साहित्य माना एवं आदिवासी जीवन पर ग़ैर आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को आदिवासी संबंधी साहित्य की श्रेणी में रखा। वर्तमान समय में देखा जाए तो आदिवासी साहित्य के तीन प्रमुख रूप मिलते हैं-

1. आदिवासियों के बारे में लिखा गया साहित्य।
2. आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य।
3. आदिवासी दर्शन के आधार पर लिखा गया साहित्य।

आदिवासियों के बारे में लिखे गए साहित्य को आदिवासी साहित्य के रूप में स्वीकार करना एक अत्यंत कमज़ोर तर्क है, इस तर्क के माध्यम से अध्येता, रेणु के 'मैला आँचल' के संथाल प्रसंग से आदिवासी साहित्य की शुरुआत मानने लगते हैं। आदिवासी चिंतक मुख्य धारा की रचनाओं में आए इस तरह के वन एवं आदिवासी प्रसंगों को आदिवासी साहित्य के अंतर्गत मानने से इनकार करते हैं। इसी प्रकार आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को आदिवासी साहित्य मानने के तर्क की अपनी सीमाएँ हैं।

इन दोनों प्रकार के साहित्य से इतर जिस रूप से आदिवासी साहित्य का प्रारंभ माना जा सकता है, उसे पुरखा साहित्य के रूप में जाना जाता है। पुरखा साहित्य, आदिवासी समाज की मौखिक परम्परा का साहित्य है। एक प्रश्न यह भी उठता है कि इसे लोक-साहित्य या मौखिक साहित्य के स्थान पर पुरखा साहित्य ही क्यों नाम दिया गया है? इस सन्दर्भ में आदिवासी रचनाकार वंदना टेटे का मानना है कि क्योंकि आदिवासी समाज में बाहरी समाज की तरह लोक और शास्त्र का भेद नहीं है, इसलिए साहित्य को भी अलग नहीं किया जा सकता। लगभग सभी आदिवासी भाषाओं में पुरखा साहित्य की उपस्थिति है। इसी पुरखा साहित्य को आदिवासी दर्शन का मूलाधार समझा जा सकता है। प्रमुख आदिवासी चिंतकों में से एक वंदना टेटे अपनी पुस्तक "वाचिकता" में आदिवासी दर्शन पर बात करते हुए कहती हैं कि **"आदिवासी दर्शन प्रकृतिवादी है। आदिवासी समाज धरती, प्रकृति और सृष्टि के ज्ञात-अज्ञात निर्देश, अनुशासन और विधान को सर्वोच्च स्थान देता है। उसके दर्शन में सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर, मनुष्य-अमनुष्य जैसी कोई अवधारणा नहीं है, न ही वह मनुष्य को उसके बुद्धि-विवेक अथवा 'मनुष्यता' के कारण 'महान' मानता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि सृष्टि में जो कुछ भी सजीव और निर्जीव है,सब समान है। वह ज्ञान, तर्क, अनुभव और भौतिकता को प्रकृति के अनुशासन की सीमा के भीतर ही स्वीकार करता है, उसके विरुद्ध नहीं। अन्वेषण, परीक्षण और ज्ञान को आदिवासी दर्शन सुविधा और उपयोगिता की दृष्टि से नहीं देखता, बल्कि धरती, प्रकृति और समस्त जीव-जगत के साथ सहजीवी सामंजस्य और अस्तित्वपूर्ण संगति के बतौर देखता है। मानव की सभी गतिविधियों और व्यवहारों को, समूची विकासात्मक प्रक्रिया को प्रकृति व समष्टि के विरुद्ध**

नहीं, बल्कि उसके पूरक के रूप में देखता है। उन सबका उपयोग वह वहीं तक करता है, जहाँ तक समष्टि के किसी भी वस्तु अथवा जीव को, प्रकृति और धरती को कोई गम्भीर क्षति नहीं पहुँचती हो। जीवन का क्षरण अथवा क्षय नहीं होता हो। आदिवासी साहित्य इसी दर्शन को लेकर चलता है।"[2]

यही आदिवासी दर्शन, आदिवासी साहित्य की मूल अवधारणा में उपस्थित है। इसी आदिवासी दर्शन आधारित साहित्य का हिंदी में लेखन पिछले कुछ दशकों में प्रमुखता से हुआ है। साथ ही इसके विकास में आदिवासी एवं ग़ैर-आदिवासी लेखकों ने साझी भूमिका निभाई है।

हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श:

हिंदी साहित्य में उपजे अस्मितामूल्क विमर्शों के रूप में स्त्री एवं दलित विमर्श के पश्चात् आदिवासी विमर्श का ही स्थान है। जहाँ स्त्री विमर्श के केंद्र में मुख्यधारा द्वारा स्त्री पक्ष की लैंगिक उपेक्षा का तथा दलित विमर्श के केंद्र में सामाजिक उपेक्षा का भाव उपस्थित रहा, वहीं आदिवासी विमर्श की उपज मुख्यधारा से भाषिक एवं सांस्कृतिक अलगाव के कारण अधिक दिखाई पड़ती है। आदिवासी विमर्श, अन्य दोनों अस्मितामूल्क विमर्शों से भिन्न इस कारणवश भी है क्योंकि जहाँ अन्य दोनों विमर्श, 'मैं' की अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं वहीं आदिवासी विमर्श 'हम' की अभिव्यक्ति में विश्वास करता है। आदिवासी विमर्श की सामूहिकता के प्रति गहरी आस्था का ही परिणाम है कि आदिवासी साहित्य में स्त्री एवं दलित विमर्श की भाँति आत्मकथात्मक साहित्य की उपस्थिति न के बराबर पाई जाती है। आदिवासी विमर्श के केंद्र आदिवासी दर्शन में एक विशेषता यह भी है कि वर्तमान में जहाँ, चारो ओर निराशा, कुंठा एवं हताशा का माहौल व्याप्त है वहीं आदिवासी दर्शन में जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जीजिविषा विद्यमान है। आदिवासी दर्शन में सांस्कृतिक वैविध्य के साथ-साथ जीवन के प्रति सहजता एवं सरलता दोनों उपस्थित हैं। आदिवासी समुदायों में न ही आर्थिक लाभ की तीव्र उत्कंठा है और न ही मुनाफे के लिए अँधा पागलपन। बल्कि ये आदिवासी समुदाय तो सदैव अपने सुखमय जीवन के लिए सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की मुद्रा में खड़े दिखाई पड़ते हैं। इक्कीसवीं सदी का आदिवासी विमर्श न केवल जल, जंगल और ज़मीन के संरक्षण के मुद्दे को उठाता है अपितु इस पर निर्भर समूचे आदिवासी समुदाय के संरक्षण की आवाज़ भी बन रहा है।

जहाँ एक लंबे अरसे तक आदिवासी मुद्दों एवं पात्रों को साहित्य के अंतिम छोर पर पड़ी वस्तु के रूप में देखा गया, वहीं पिछले तीन दशकों में आदिवासी साहित्य को एक विशेष पहचान दिलाने के उद्देश्य से प्रतिबद्ध रूप में लेखन कार्य किया गया है। इससे पूर्व यदा-कदा आदिवासी पात्रों या वन्य जीवन से जुड़े विषयों का केवल संयोगवश उल्लेख मिलता था। पिछले तीन दशकों में वैश्विक उदारीकरण, औद्योगिकीकरण एवं विकास के नाम पर जिस तरह तेज़ी से प्राकृतिक संसाधनों एवं वन्य आवासों को नष्ट किया गया, यह आदिवासी साहित्य उसी के प्रतिरोध में उपजी हुई रचनात्मक अभिव्यक्ति है। आदिवासी चिंतक 'गंगा सहाय मीणा' कहते हैं कि, **"1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज हुई आदिवासी शोषण की प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरूप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी साहित्य है।"[3]**

समकालीन आदिवासी लेखन और उसकी प्रवृत्तियाँ

हिंदी में आदिवासी साहित्य लेखन का सतत् इतिहास तीन दशक पुराना है। इससे पहले भी आदिवासी रचनाकारों द्वारा रचनाएँ लिखी गईं, परन्तु यह लेखन एक सतत् धारा के रूप में 1990 के आस-पास विकसित होने

लगा। पिछले तीन दशकों में आदिवासी साहित्य विभिन्न विधाओं में विभिन्न क्षेत्रों के आदिवासी समूहों की अभिव्यक्ति के स्रोत के रूप में विकसित हुआ है। आदिवासी साहित्य के अंतर्गत मुख्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास जैसी विधाओं में लेखन कार्य किया गया परन्तु यह नहीं है कि केवल आदिवासी साहित्य केवल इन्हीं विधाओं तक सीमित रहा हो, वर्तमान में व्यंग्य, संस्मरण एवं यात्रा वृत्तान्त जैसी विधाओं में भी आदिवासी साहित्य लिखा जा रहा है।

आदिवासी कविता की शुरुआत **सुशीला सामद(1906-1960)** से मानी जाती है। सुशीला सामद के पश्चात् यह कविता परम्परा टूटती जान पड़ती है, जिसके पश्चात् रामदयाल मुंडा इक्कीसवीं सदी की आदिवासी कविता हेतु पथ निर्माण की भूमिका में उपस्थित दिखाई देते हैं। इक्कीसवीं सदी में आदिवासी कविता पूरी तरह फल फूल रही है, इक्कीसवीं सदी में आदिवासी कविता के विकास में महादेव टोप्पो, हरिराम मीणा, निर्मला पुतुल, रोज़ केरकेट्टा, वाहरू सोनवने, मंजू ज्योत्स्ना, वंदना टेटे, जसिंता केरकेट्टा, सुषमा असुर, अनुज लुगुन, केशव मेश्राम, पार्वती तिर्की, पूनम वासम आदि आदिवासी कवियों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इक्कीसवीं सदी की आदिवासी कविता केवल पीड़ा एवं संघर्ष का ही बोध नहीं करवाती है अपितु यह आदिवासी कविता प्रकृति के आलोक में मनुष्य के सुखमय जीवन का भी बोध करवाती है। वर्तमान की आदिवासी कविता सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिस्थितिक संघर्ष, अस्तित्व की समस्या, विस्थापन, अशिक्षा, बेरोज़गारी जैसे विषयों को प्रस्तुत करती है। जसिंता केरकेट्टा की कविता 'नदी, पहाड़ और बाज़ार' दिखाती है कि किस प्रकार विकास के नाम पर नदी, जंगलों एवं पहाड़ों को नष्ट कर दिया गया है-

सूखे दरख़्तों के बीच देख
एक पतली पगडंडी
मैंने नन्ही पीढ़ी से कहा,
देखो, यही थी कभी गाँव की नदी।
आगे देख ज़मीन पर बड़ी-सी दरार
मैंने कहा, इसी में समा गए सारे पहाड़।
अचानक वह सहम के लिपट गई मुझसे
सामने दूर तक फैला था भयावह क़ब्रिस्तान।
मैंने कहा, देख रही हो इसे?
यहीं थे कभी तुम्हारे पूर्वजों के खलिहान।[4]

तथाकथित सभ्य समाज में आदिवासी समाज के रहन-सहन को लेकर ऐसे पूर्वग्रह विद्यमान हैं जो आदिवासी समाज से अलगाव की स्थिति पैदा करते हैं, इसी पीड़ा को निर्मला पुतुल अपनी कविता 'मेरा सबकुछ अप्रिय है उनकी नज़र में' के माध्यम से करती नज़र आती हैं-

वे घृणा करते हैं हमसे
हमारे कालेपन से
हँसते हैं, व्यंग्य करते हैं हम पर
हमारे अनगढ़पन पर कसते हैं फब्तियाँ।[5]

केवल ये ही नहीं, अनुज लुगुन की 'अघोषित उलगुलान' कविता विस्थापन के विषय को बड़ी गंभीरता से हमारे सामने उपस्थित करती है। इक्कीसवीं सदी में, सरई फूल(राही डूमरचीर), दधिचि ने जब कहा(वंदना टेटे), जंगल है हमारी पहली पाठशाला(पूनम वासम), एक आदिवासी गीत सुनते हुए(मदन कश्यप), बस्तर बैलाडीला(शैलेन्द्र साहू) आदि कविताएँ आदिवासी विमर्श को और अधिक मजबूती के साथ आगे बढ़ा रही हैं।

जितनी तेज़ी से आदिवासी कविता का विकास हुआ, लगभग उसी गति से आदिवासी कहानी ने भी अपने परिसर का विस्तार किया। आदिवासी कहानियों की शुरुआत राधाकृष्ण के 'गेंद और गोल' कहानी संग्रह से मानी जा सकती है। इक्कीसवीं सदी में आदिवासी कहानियों के पहले विशिष्ट संग्रह के रूप में रमणिका गुप्ता द्वारा

सम्पादित 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी'(2005) का नाम सामने आता है। इस कहानी संग्रह में 'कोमल' द्वारा रचित 'पहचान' कहानी दर्शाती है कि किस प्रकार आदिवासी समुदाय को तथाकथित सभ्य लोगों द्वारा गढ़े गए स्टीरियोटाइप का सामना करना पड़ता है। रोज़ केरकेट्टा की कहानी 'पगहा जोरी जोरी रे घाटो'(2011), आदिवासी समाज में स्त्री की स्थिति का चित्रण करती है, ये दिखाती है कि किस प्रकार आदिवासी समाज भी कुछ स्थानों पर स्त्री पुरुष के विभेद से ग्रस्त है। पूर्वोत्तर से संबंध रखने वाली जोराम यालाम नाबाम के कहानी संग्रह 'साक्षी है पीपल'(2012) की कहानी 'चुनौती' जंगल के माध्यम से वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था पर एक चुटीला व्यंग्य करती नज़र आती है। इन कहानियों के अतिरिक्त रणेंद्र की कहानी 'रात बाकी है' विस्थापन की, अश्विनी कुमार पंकज की 'नरेगा' कोयला खदानों में मरते आदिवासियों की, राकेश कुमार सिंह का कहानी संग्रह, 'महुआ मांदल और अंधेरा' बंधुआ मजदूरी, जंगलों के उजड़ने और शोषण की कथा कहता है। वे लिखते हैं कि **"रेल यहाँ आदमियों के लिए नहीं चलती। चलती है झारखंड को दुहने के लिए। सारा समय मालगाड़ियाँ धड़धड़ाती रहती हैं पटरियों पर।"**[6]

आदिवासी उपन्यासों ने भी इक्कीसवीं सदी में आदिवासी विमर्श को प्रशस्त करने में महती भूमिका निभाई है। मैत्रेयी पुष्पा द्वारा रचित 'अल्मा कबूतरी'(2000) उपन्यास, बुन्देलखण्ड में रहने वाली कबूतरा जनजाति और सभ्य समाज के बीच टकराव का चित्रण करता है। तेजिन्दर का उपन्यास 'काला पादरी', सरगुजा आदिवासियों को धार्मिक पहचान दिलाने के नाम पर मिशनरियों द्वारा की जाने वाली अमानुषिक कोशिशों का साहित्यिक दस्तावेज़ है। राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'पठार पर कोहरा' झारखंड के आदिवासी क्षेत्रों में साहूकारों एवं सरकारी अफसरों द्वारा किए जाने वाले शोषण को प्रस्तुत करता है। भगवानदास मोरवाल का 'रेत' उपन्यास हरियाणा की कंजर जनजाति की स्थिति को प्रस्तुत करता है, यह दिखाता है कि किस प्रकार आज भी कंजर जाति को समाज में जरायमपेशा जाति के रूप में देखा जाता है। महुआ माँझी का उपन्यास 'मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ' यूरेनियम खदानों में काम करने वाले आदिवासी मजदूरों पर आधारित है, यह विकास और विस्थापन में से शिव के समान विष पीने वाले आदिवासी समुदाय की त्रासदी को दर्शाता है।

इन तीनों प्रमुख विधाओं के अतिरिक्त अन्य विधाओं में भी आदिवासी रचनाकारों द्वारा रचनाएँ की गई हैं। जैसे- यात्रा वृत्तान्त- 'साइबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक'(हरिराम मीणा), उरावों की विरासत रोहतासगढ़(फ्रांसिस्का कुजूर), व्यंग्य संग्रह- जिंदाबाद-मुर्दाबाद(शंकरलाल मीणा) आदि।

निष्कर्ष:

समकालीन आदिवासी साहित्य, भारतीय साहित्य की उस धारा का प्रतिनिधित्व करता है जिसे लम्बे समय तक उपेक्षित रखा गया। इक्कीसवीं सदी में, विमर्श के माध्यम से उभरते आदिवासी स्वर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति केवल दुःख और शोषण का दस्तावेज़ नहीं है, अपितु अस्मिता, प्रतिरोध एवं आत्मसम्मान की साहित्यिक उद्घोषणा है। आदिवासी विमर्श ने जल, जंगल और ज़मीन को केवल संसाधन के रूप में चित्रित नहीं किया अपितु इनसे गहरे संस्कृति बोध को जोड़ा है। आदिवासी स्त्री अनुभवों ने दोहरे शोषण के प्रतिरोध में एक नए विमर्श के विस्तार को स्थान दिया है। पर्यावरणीय चेतना, लोक-सांस्कृतिक मूल्य और सामुदायिक सौंदर्यबोध इस साहित्य के महत्वपूर्ण योगदान हैं, जिन्होंने आधुनिक विकास मॉडल के कथित प्रगतिशील स्वरूप पर प्रश्नचिह्न लगाए हैं।

हालाँकि, इस विमर्श के सामने अब भी प्रकाशन-संकट, भाषा-संरक्षण, प्रतिनिधित्व और संस्थागत मान्यता से जुड़ी चुनौतियाँ उपस्थित हैं। इसके बावजूद डिजिटल युग और नई पीढ़ी के लेखन ने उम्मीद की नई किरणें जगाई हैं। आने वाले समय में आदिवासी साहित्य न केवल भारतीय साहित्य को समृद्ध करेगा, बल्कि मानवता के लिए एक वैकल्पिक जीवन-दृष्टि और न्यायपूर्ण समाज का मार्ग भी सुझाएगा। समग्रतः समकालीन आदिवासी साहित्य अपने अस्तित्व, अधिकार और संस्कृति की रक्षा करते हुए, भविष्य की सभ्यता को अधिक संवेदनशील और समावेशी बनाए रखने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

संदर्भ:

1. मीणा, हरिराम. *समकालीन आदिवासी कविता*, संपा. गंगा सहाय मीणा, *आदिवासी साहित्य विमर्श,* नेहा पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2012, पृ. सं. 159.
2. टेटे, वंदना. *वाचिकता,* राधाकृष्ण प्रकाशन, 2020, पृ. सं. 14.
3. मीणा, गंगा सहाय. *आदिवासी साहित्य विमर्श,* संपा. प्रमोद रंजन एवं आयवन कोस्का, *बहुजन साहित्य की प्रस्तावना,* द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, पृ. सं. 80-81.
4. केरकेट्टा, जसिंता. https://www.hindwi.org/kavita/tribal/nadi-pahad-aur-bazar-jacinta-kerketta-kavita?sort= (07 दिसंबर, 2025 को देखा गया)
5. पुतुल, निर्मला. *नगाड़े की तरह बजते शब्द,* भारतीय ज्ञानपीठ, 2005, पृ. 72.
6. सिंह, राकेश कुमार. *महुआ मांदल और अंधेरा*, रेमाधव प्रकाशन, 2007, पृ. 36.